महाबन्धकी सैद्धान्तिक समीक्षा

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

यह सुनिश्चित है कि भावकी दृष्टिसे जिनवाणी स्वतःसिद्ध, अनादि व अनिधन है। इसका प्रमाण यह है कि आज तक जितने भी तीर्थंकर, वीतराग उपदेष्टा हुए, उन सभी अनन्त ज्ञानियोंका मत एक है। वे अन्तरंग और बहिरंग दोनोंमें एक हैं। शब्दके द्वारा जो अर्थ प्रकाशित होता रहा, उसमें किसी भी प्रकारका विरोध व विसंगति नहीं है। सभी ज्ञानियोंका भाव एक ही परिलक्षित होता है। यही जिनागमकी प्रमुख विशेषता है।

जिनवाणीका मूल आगम है। सम्प्रति जो उपलब्ध है, वह आगम ही है। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन इन तीनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। आगमके दो भेद कहे गये हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंग-प्रविष्ट बारह प्रकारका है। अंगप्रविष्टके बारह भेदोंको द्वादशांग कहते हैं। द्वादशांगका बारहवाँ भेद दृष्टि-वाद है। उसके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। इनमेंसे पूर्वगत चौदह प्रकारका है। अतः जिनवाणी ग्यारह अंग चौदह पूर्वके नामसे भी प्रसिद्ध है।

चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व अग्रायणीय है। इसके चौदह अर्थाधिकार हैं। पाँचवाँ अर्थाधिकार चयन-लब्धि है जिसे वेदनाकृत्स्न प्राभृत भी कहते हैं। इसके चौबीस अर्थाधिकार कहे गये हैं। उनमेंसे प्रारम्भके छह अर्थाधिकार हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन। इन चौबीसोंको अनुयोगद्वार कहा जाता है। अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक छह अर्थाधिकारोंको "षट्खण्डागम" में निबद्ध किया गया है।

दिव्यध्वनिसे प्रसूत द्वादशांग जिनवाणीके निबन्धक गणधर कहे जाते हैं। गणधरोंकी परम्परासे पोषित आगम-परम्पराका संवहन करनेवाले आरातीय तथा सारस्वत आचार्योंने ही आज तक इसकी रचना की है। ग्रन्थ-लेखनकी परम्परा आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिसे प्रारम्भ हुई। उन्होंने द्वादशांग-सूत्रोंका संकलनकर छह खण्डोंमें निबद्ध किया, जिससे ग्रन्थका नाम "षट्खण्डागम" प्रसिद्ध हुआ। आचार्य वीरसेनने इसे "षट्खण्ड-सिद्धान्त" नामसे अभिहित किया है। इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार' के अनुसार 'षट्खण्डागम' का प्रारम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया था। 'धवला' टीकासे भी इसका समर्थन होता है कि सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके रचयिता आ० पुष्पदन्त हैं। दूसरे खण्डसे लेकर छठे खण्ड तककी रचना आ० भूतबलिनेकी थी। उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त रचित सूत्रों को मिलाकर पाँच खण्डोंके छह हजार सूत्रोंकी रचना की तथा महाबन्ध नामक छठे खण्डके तीस हजार सूत्रोंकी रचना की। इस प्रकार अनुयोगद्वारके अन्तर्गत षट्खण्डागम एवं पाहुडों (प्राभृतों) की रचना की गई। अकेले अग्रायणी पूर्वके पंचम प्रकरणमें बीस पाहुडोंकी संख्या कही गई है। उनमेंसे चतुर्थ पाहुडका नाम 'कम्मपयडि' (कर्मप्रकृति) है। इस पाहुडके चौबीस अनुयोगद्वार हैं।

द्वादशांग तथा चौदह पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता, परम प्रात स्मरणीय आचार्य धरसेनके प्रमुख शिष्यद्वय आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने मिलकर जिस महान् अंगभूत 'षट्खण्डागम' की रचना की थी, उसका ही अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' है। इसे 'महाधवल' भी कहते हैं। 'महाधवल' का लाक्षणिक अर्थ है—अत्यन्त विशद। वास्तवमें आ० वीरसेन कृत 'धवला' टीकाने 'षट्खण्डागम' के सूत्रोंकी विशद तथा स्पष्ट व्याख्या कर सिद्धान्त रूपी निर्मल जलको सबके लिए सुलभ कर दिया है। यद्यपि अनेक आचार्योंने 'षट्खण्डागम' की टीकाएँ रचीं, किन्तु जो प्रसिद्धि धवला, जयधवलाकी है, वह अन्य किसीको नहीं मिली। आचार्य गुणधर कृत 'कसाय-पाहुड' और उसके चूर्णिसूत्रोंकी विशद टीका 'जयधवला' के नामसे आठ हजार श्लोकप्रमाण आचार्य—वीरसेन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनसेन विरचित उपलब्ध होती है। इन दोनों टीकाओंके नाम-सादृश्यपर महाबन्धको कालान्तरमें महाधवल कहा जाने लगा। क्योंकि आ० वीरसेनके समयमें धवल, जयधवलकी प्रसिद्धि थी। वस्तुतः महाबन्धपर कोई टीका आज तक उपलब्ध नहीं है। ब्रह्म हेमचन्द्र कृत 'श्रुतस्कन्ध' में कहा गया है—

सत्तरिसहस्सधवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो।
महबंधं चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे॥

अर्थात्—धवल टीका सत्तर हजार श्लोकप्रमाण है, जयधवल साठ हजार श्लोकप्रमाण है और महाबन्ध चालीस हजार श्लोकप्रमाण है। मैं इन तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी वन्दना करता हूँ। यहाँपर 'महाधवल' नामका उल्लेख नहीं है।

षट्खण्डागमके प्रथम खण्डका नाम 'जीवट्ठाण' (जीवस्थान) है। इसमें चौदह गुणस्थानों तथा चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव, अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारा जीवका कथन किया गया है। दूसरे खण्डमें ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मका बन्ध करनेवाले जीवका वर्णन है। तीसरे खण्डमें मार्गणाओंकी अपेक्षा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियाँ बँधती हैं, कितनी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, इत्यादि सविस्तार वर्णन मिलता है। चौथे खण्डमें वेदना अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणदिक आठ कर्मोंकी द्रव्य वेदना, क्षेत्र वेदना, काल वेदना, भाव वेदना, प्रत्यय स्वामित्व वेदना तथा गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभाग, अल्पबहुत्वका कथन है। पाँचवें वर्गणा नामक खण्डमें कर्म-प्रकृतियों तथा पुद्गलकी तेईस प्रकारकी वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। बन्धनके चार भेद कहे गये हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान।

प्रश्न यह है कि पाँचों खण्डोंमें कर्म विषयक लगभग सम्पूर्ण सामग्रीका निबन्धन हो जानेपर छठे खण्ड की क्या आवश्यकता थी? इसका समाधान करते हुए पण्डितजी अपने लेखमें लिखते हैं—'इस प्रकार उक्त पाँच खण्डोंमें निबन्ध विषयका सामान्य अवलोकन करनेपर विदित होता है कि उक्त पाँचों खण्डोंमें कर्म विषयक सामग्रीका भी यथासम्भव अन्य सामग्रीके साथ यथास्थान निबद्धीकरण हुआ है। फिर भी, बन्धन अर्थाधिकारके बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अर्थाधिकारोंका समग्र भावसे निबद्धीकरण नहीं हो सका है। अतः इन चारों अर्थाधिकारोंको अपने अवान्तर भेदोंके साथ निबद्ध करनेके लिए छठे खण्ड महाबन्धको निबद्ध किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि 'महाबन्ध' का मूल आधार बन्धन नामक अर्थाधिकार है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'षट्खण्डागम' में छह खण्ड हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. जीवट्ठाण (जीवस्थान), २. खुद्दाबंध (क्षुल्लक बन्ध), ३. बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्व विचय), ४. वेयणा (वेदना), ५. वग्गणा (वर्गणा), ६. महाबंध (महाबन्ध)। महाबन्धमें प्रमुख तत्त्व बन्धका विशदतासे विवेचन किया गया है। यद्यपि पाँचवें खण्डमें वर्गणाओंके तेईस भेदोंका सांगोपांग विवेचन हो चुका था, किन्तु बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधानका श्रृंखला रूपमें क्रमबद्ध विवेचन नहीं हो पाया था, इसलिए उसे उपन्यस्त करनेके लिए इस खण्डकी आचार्य भूतबलीको अलगसे संयोजना करनी पड़ी।

प्रश्न यह है कि जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और प्रत्येक पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र है। जब प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न है, तो बन्ध-अवस्था कैसे उत्पन्न हो जाती है? इसी प्रकार एक जीव द्रव्यकी मुक्त और संसारी ये दो अवस्थाएँ कैसे होती हैं? यह तो सभी जानते हैं कि किसी भी कार्यके निष्पन्न होनेमें एक नहीं, अनेक कारण होते हैं। बिना कारणके कोई कार्य नहीं होता। वे कारण दो प्रकारके होते हैं—अन्तरंग और बहिरंग। उनमें अन्तरंग कारण प्रबल माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यमें बाह्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अन्तरंग उपाधिकी समग्रता होती है। उनकी मीमांसा कर आचार्य भूतबलीने उक्त प्रश्नके उत्तर रूपमें महाबन्धको निबद्ध किया है।

'महाबन्ध' में मुख्य अधिकार चार हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों अधिकारोंका विशद विवेचन 'षट्खण्डागम' के इसे छठे खण्डमें अनुयोगद्वारोंमें विस्तार पूर्वक किया गया है। यह परमागम ग्रन्थ सात पुस्तकोंमें भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुका है। 'महाबन्ध' का प्रथम भाग सन् १९४७ में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्रीने किया था। महाबन्धकी पुस्तक २ से लेकर ७ तक छहों भागोंका सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने अकेले ही अत्यन्त सफलता पूर्वक किया। उनके सम्बन्धमें डा० हीरालाल जैन और डॉ० आ० ने० उपाध्येके विचार हैं—'इस खण्डके सम्पादक पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीसे विद्वत्समाज भलीभाँति परिचित है। धवल सिद्धान्तके सम्पादन व प्रकाशन-कार्यमें उनका बड़ा सहयोग रहा है और अब पुनः सहयोग मिल रहा है। उन्होंने इस खण्डके सम्पादनका कार्य सहर्ष स्वीकार किया और आशातीत स्वल्प कालमें ही—इतना सम्पादन और अनुवाद करके सिद्धान्तोद्धारके पुण्यकार्यमें उत्तम योगदान दिया है। इस कार्यके लिए ग्रन्थमालाकी ओरसे हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि वे ऐसी ही लगनके साथ शेष खण्डोंका भी सम्पादनकर इस महान् साहित्यिक निधिको शीघ्र सर्वसुलभ बनानेमें सहायक होनेका पुण्य प्राप्त करेंगे। कार्य वेगसे किये जाने पर भी, सिद्धहस्त होनेके कारण पण्डितजीके सम्पादन व अनुवाद कार्यसे हमें बड़ा सन्तोष हुआ है और भरोसा है कि पाठक भी इससे सन्तुष्ट होंगे।

यह भी एक विचित्र संयोग तथा गौरवकी बात है कि जिन-जिन विद्वानों ने धवला, जयधवला, महाधवलादि ग्रन्थोंके सम्पादन एवं अनुवादमें सहयोग किया, उनमेंसे पण्डितजी आज भी सक्रिय हैं। उनके अनथक अध्यवसायसे भी ही जिनवाणीका अवशिष्ट भाग राष्ट्रभाषाके माध्यमसे तथा मूल शुद्ध रूपमें जन-जनको सुलभ हो सका है।

श्री भगवन्त भूतबलि भट्टारक प्रणीत महाबन्धके द्वितीय भागमें सर्वप्रथम स्थितिबन्धका विवेचन किया गया है। स्थितिबन्ध दो प्रकारका है—मूलप्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृति स्थितिबन्ध। मूल प्रकृति स्थितिबन्धका विचार स्थितिबन्धस्थान-प्ररूपणा, निषेक-प्ररूपणा, आबाधाकाण्डक-प्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन चार अनुयोगोंके द्वारा किया गया है। प्रथम भागमें प्रकृतिबन्धका अनुयोगद्वारोंमें विवेचन है। प्रकृतिबन्धको ओघ और आदेशसे प्रथम अर्थाधिकारमें विविध अनुयोगोंके द्वारा निबद्ध किया गया है। इस परमागममें जीवसे सम्बद्ध होने वाले कर्म, उनकी स्थिति और अनुभाग (फल-दानकी शक्ति) के साथ ही संख्यामें वे प्रदेशोंकी अपेक्षा कितने होते हैं, इसका वर्णन किया गया है। 'कर्म' शब्दका प्रयोग तीन अर्थमें किया गया है–(१)जीवकी स्पन्दन क्रिया, (२)जिन भावों से स्पन्दन क्रिया होती है उनके संस्कारसे युक्त कार्मण पुद्गल तथा (३) वे भाव जो कार्मण पुद्गलोंमें संस्कार के कारण होते हैं। जिन भावोंसे स्पन्दन क्रिया होती है वे भाव और स्पन्दन क्रिया अनन्तर समयमें निवृत्त हो जाती है। लेकिन संस्कारसे युक्त कार्मण पुद्गल जीव साथ चिर काल तक सम्बद्ध रहते हैं। अपना काम पूरा करके ही वे निवृत्त होते हैं। सभी पुद्गल कर्म भावको प्राप्त नहीं होते हैं। मुख्य रूपसे पुद्गलोंकी २३ जातियाँ कही गई हैं। उनके नाम हैं—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्यताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मण वर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तर निरन्तर वर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीर वर्गणा, ध्रुवशून्य वर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्य वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, महास्कन्ध वर्गणा। ये २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएँ ही कर्म भावको प्राप्त होती हैं। इन वर्गणाओंमें से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कर्मणवर्गणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये पाँच वर्गणाएँ जीव ग्रहण करता है। इनके अतिरिक्त वर्गणाएँ अग्राह्य कही गई हैं। राग, द्वेष आदि परिणामोंके निमित्तसे जीवके आत्मा-प्रदेशोंके साथ कार्मण वर्गणाओंका जो संयोग होता है उसे 'बन्ध' कहा गया है। बन्धका अन्य कोई अर्थ नहीं है।

प्रश्न यह है कि मिथ्यादर्शन, रागादिके निमित्तसे कर्म भावको प्राप्त होनेवाली वर्गणाए कर्म रूप होकर जीवसे सम्बद्ध होकर रहती हैं या नहीं ? इसका समाधान विशेष रूपसे महाबन्धमें किया गया है। पण्डितजी ने अपने शब्दोंमें उसे संक्षेपमें इस प्रकार लिखा है–'परमागममें बन्ध दो प्रकारका बतलाया है—एक तादात्म्य सम्बन्ध रूप और दूसरा संयोग सम्बन्ध रूप। इनमेंसे प्रकृतमें तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका अपने गुण-पर्यायके साथ ही तादात्म्य रूप बन्ध होता है; दो द्रव्यों या उनके गुण-पर्यायोंके मध्य नहीं। संयोग सम्बन्ध अनेक प्रकारका होता है। सो उसमें भी दो या दो से अधिक परमाणुओं आदिमें जैसा श्लेष बन्ध होता है, वह भी यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि पुद्गल स्पर्शवान द्रव्य होनेपर भी जीव स्पर्शादि गुणोंसे रहित अमूर्त द्रव्य है। अतः जीव और पुद्गलका श्लेषबन्ध बन नहीं सकता। स्वर्णका कीचड़के मध्य रहकर दोनोंका जैसा संयोग सम्बन्ध होता है, ऐसा भी यहाँ जीव और कर्मका संयोग सम्बन्ध नहीं बनता। क्योंकि कीचड़के मध्य रहते हुए भी स्वर्ण कीचड़से अलिप्त रहता है। कीचड़के निमित्तसे स्वर्णमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। मात्र परस्पर अवगाह रूप संयोग सम्बन्ध भी जीव और कर्मका नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जीव-प्रदेशोंका विस्रसोपचयोंके साथ परस्पर अवगाह होने पर भी विस्रसोपचयोंके निमित्तसे जीवमें नरकादि रूप व्यंजन पर्याय और मिथ्यादर्शनादि भाव रूप किसी प्रकारका परिणाम नहीं होता। तब यहाँ किस प्रकारका बन्ध स्वीकार किया गया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि जीवके मिथ्यादर्शनादि भावोंको निमित्तकर जीव प्रदेशोंमें अवगाहन कर स्थित विस्रसोपचयोंके कर्म भावको प्राप्त होने पर उनका और प्रदेशोंमें परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना यही जीवका कर्मके साथ बन्ध है। ऐसा बन्ध ही प्रकृतमें विवक्षित है। इस प्रकार जीवका कर्मके साथ बन्ध होने पर उसकी प्रकृतिके अनुसार उस बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते हैं 'प्रकृतिका' अर्थ स्वभाव है किन्तु वह जीवका स्वभाव न होकर कर्मपरमाणुओंका स्वभाव है। आगत कर्म-परमाणु जितने समय तक आत्माके साथ संयोग सम्बन्ध रूपसे रहते हैं, उस कालकी अवधिको स्थितिबन्ध कहते हैं। उन कर्म-परमाणुओंमें फल देनेकी शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते हैं। आत्माके साथ संयोग सम्बन्ध रूपसे रहने वाले कर्म-परमाणुओंका ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि आठ कर्म रूपसे और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके रूपसे जो बँटवारा होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। बन्धके इन चार भेदोंका 'महाबन्ध' में विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। आचार्य भूतबलिने इतना विशद विवेचन किया है कि प्रारम्भके पाँच खण्डोंकी तुलनामें इसका परिमाण पंचगुना हो गया है। सभी दृष्टियोंसे यह जानने, समझने तथा हृदयंगम करने योग्य है।

'महाबन्ध' में बन्धविषयक सांगोपांग स्पष्ट विवेचन है। इसलिये किसी भी परवर्ती आचार्यको इस पर टीकाभाष्य या व्याख्या करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। उदाहरणके लिए, षट्खण्डागमके छठे खण्डके तीसरे भागमें अनुभागबन्धकी प्ररूपणा है। अनुभागका अर्थ है—कर्मोंमें फल-दानकी शक्ति। गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार योगके निमित्तसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। कषायके अनुसार उनमें न्यूनाधिक शक्तिका निर्माण होता है। शक्तिका कम-अधिक होना ही अनुभाग है। प्रत्येक कर्ममें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अनुभाग-शक्ति प्रकट होती है। अतः प्रकृतिको सामान्य तथा अनुभागको विशेष भी कहा जाता है। यद्यपि मूल प्रकृतियोंके भेद-प्रभेद विशेष ही हैं, किन्तु फल-दानकी शक्तिकी तर-तमतासे वे सामान्य भी हैं। वस्तुतः प्रकृति-बन्धमें जो विशेषता लक्षित होती है उसका कारण मुख्य रूपसे अनुभाग बन्ध ही है। बन्धकी अपेक्षा अनुभाग दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकारका है—मूलप्रकृति अनुभाग बन्ध और उत्तरप्रकृति अनुभाग बन्ध। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। बन्धके समय इनमें फल-दानकी शक्ति उत्पन्न होती है उसे मूलप्रकृति अनुभागबन्ध कहते हैं। इसी प्रकारसे उत्तर प्रकृतियोंमें जो अनुभाग पड़ता है उसे उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध कहते हैं। प्रत्येक समयमें जो कर्म बँधता है उसका विभाग दो प्रकारसे होता है—स्थितिकी अपेक्षा और अनुभागकी अपेक्षा। प्रत्येक समयमें, आबाधा कालको छोड़कर, स्थिति कालसे लेकर जो कर्म-पुंज प्राप्त होता है उसे स्थितिकी अपेक्षा निषेक कहा जाता है। प्रत्येक समयमें वह अपनी स्थितिके अनुसार विभाजित हो जाता है। केवल आबाधाके कालमें निषेक-रचना नहीं होती। अनुभागकी अपेक्षा जघन्य अनुभाग वाले कर्म-परमाणुओंकी प्रथम वर्गणा होती है। उसके प्रत्येक परमाणुको वर्ग कहते हैं। क्रम-वृद्धि रूप फल-दानकी शक्तिको लिए हुए अन्तर रहित वर्गणाएँ जहाँ तक उपलब्ध होती हैं उसको स्पर्धक कहते हैं। स्पर्धक देशघाती और सर्वघातीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इन दोनों प्रकारके स्पर्धकोंकी स्थिति निषेक-रचनाके प्रारम्भसे लेकर अन्त तक बनी रहती है। इन स्पर्धकोंमें मुख्य अन्तर यह है कि देशघाती स्पर्धक आठों कर्मोंके होते हैं, किन्तु सर्वघाती स्पर्धक केवल चार घातिकर्मोंके ही होते हैं। एक वर्गमें अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद परिलक्षित होते हैं। वर्ग परस्पर मिलकर एक वर्गणाका निर्माण करते हैं। इस प्रकार अनन्तानन्त वर्गणाएँ मिलकर एक स्पर्धककी रचना करती हैं। इस तरहसे इस प्रकरणका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। संक्षेपमें, निम्नलिखित प्रकरण इस एक पुस्तकमें समाविष्ट हैं—१. निषेक-प्ररूपणा, २. स्पर्धक प्ररूपणा, ३. संज्ञा, ४. सर्व-नोसर्व बन्ध, ५. उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट बन्ध, ६. जघन्य-अजघन्य बन्ध, ७. सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव बन्ध, ८. स्वामित्व बन्ध, ९. भुजगार बन्ध, १०. पद-निक्षेप, ११. वृद्धि, १२. अध्यवसानसमुदाहार, १३. जीवसमुदाहार।

इसी प्रकार चौथी पुस्तकमें स्थितिविभक्ति अधिकार है। स्थिति दो प्रकारकी कही गई है—बन्धके समय प्राप्त होनेवाली और संक्रमण, स्थितिकाण्डकघात, अधः स्थिति गलन होकर प्राप्त होनेवाली स्थिति। इन सभी भेदोंका अनुयोगद्वारसे सविशद विवेचन किया गया है। अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं—अद्धाच्छेद, सर्व-विभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति, जघन्यविभक्ति, अजघन्शदविभक्ति, सादिविभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुवविभक्ति, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, भाव और अल्पबहुत्व। यद्यपि मूल प्रकृति की स्थितिविभक्ति एक है, उनमें अनुयोगद्वार सम्भव नहीं हैं; परन्तु उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा असंख्यात भेद हैं।

कोई भी कर्म हो वह अपनी स्थितिके सब समयोंमें विभाजित हो जाता है। केवल बन्ध-समयसे लेकर प्रारम्भके कुछ समय ऐसे होते हैं जिनमें वह कर्मरूपको प्राप्त नहीं होता, उन समयोंको ही आबाधाकाल कहते हैं। उदाहरणके लिए, मोहनीय कर्मका सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थित-बन्ध होने पर बन्ध-समयसे लेकर सात हजार वर्ष तक सभी समय खाली रहते हैं। पश्चात् प्रथम समयके बटवारेमें जो भाग आता है वह सबसे बड़ा होता है, अनन्तर हीन-हीन होता जाता है। मोहनीयकी जो उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर कही गई है वह अन्तिम समयके बटवारेमें प्राप्त होनेवाले द्रव्यकी अपेक्षासे कही गई है। मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद मोहनीय सामान्यके समान सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। तथा सम्य-क्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है, क्योंकि ये दोनों बन्ध प्रकृतियाँ न होकर संक्रम प्रकृतियाँ हैं। इसलिए जिस जीवने मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करके उसका काण्डकघात किये बिना अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त किया है, उसके वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त करनेके प्रथम समयमें अन्तर्मुहूर्त कम मिथ्यात्वके सब निषेकोंका कुछ द्रव्य संक्रमणके नियमानुसार सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूपसे संक्रमित हो जाता है। इसलिए इन दो प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद अन्तर्मुहूर्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कम सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण प्राप्त होता है। सोलह कषायोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है, क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवके इन कर्मोंका इतना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। नौ नोकषायोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद एक आवलि कम चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यद्यपि नौ नोकषाय बन्धप्रकृतियाँ हैं, परन्तु बन्धसे इनकी उक्त प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त नहीं होती।

विषय-परिचयके अन्तर्गत पण्डितजीने उक्त सभी विवरण दिया है। इसे पढ़कर तथा अध्ययन कर कोई भी विद्वान् उनके सैद्धान्तिक ज्ञानकी गहराईका अनुमान लगा सकता है। इतना ही नहीं, हिन्दी अनुवादके साथ उन्होंने लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर जो विशेषार्थ दिया है, वह विशेष रूपसे मननीय है। इनके अध्ययनसे जहाँ विषय स्पष्ट हो जाता है, वहीं अन्य आचार्योंका मत, तुलनात्मक टिप्पणी एवं प्रकरणके अन्तर्गत अध्याहृत बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरणके लिए विशेषार्थ है—क्षायिक सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल साधिक तेतीस सागर है। इसलिए इसमें चार घातिकर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेतीस सागर कहा है। उपशमश्रेणिमें क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है और इसमें चार घातिकर्मोंके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धका अन्तर-काल अन्तर्मुहूर्त बन जाता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्वमें इन कर्मोंके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धका उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त कहा है। शेष कथन सुगम है।

यहाँ पर अन्तर-प्ररूपणाकी दृष्टिसे निरूपण किया गया है। आचार्य यतिवृषभने अपने चूर्णि-सूत्रोंमें ओघसे मिथ्यात्वकी तीन वृद्धि, चार हानि और अवस्थित स्थितिविभक्तिका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल बतलाया है। आचार्य वीरसेन स्वामीने इसका विस्तारसे विवेचन किया है कि वह अन्तर काल कैसे प्राप्त होता है? "महाबन्ध" में अनुभागबन्धके अधिकारके अन्तर्गत भगवन्त भूतबलिने उत्कृष्ट और जघन्य रूपोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर आदिकी प्ररूपणा की है। वहाँ यह कथन स्पष्ट है कि अनुभागके बन्धक जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। अनुत्कृष्ट अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तरकाल नहीं है। इनमें आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत, शुक्ल लेश्या वाले, भव्य, सम्यग्दृष्टि तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंकी परि-गणनाकी गई है।

बन्धके समय कर्मका जो अनुभाग प्राप्त होता है उसका विपाक जीवमें, पुद्‌गलमें या जहाँ कहीं होता है, उसका विचार विपाकदेशमें किया गया है। विपाककी दृष्टिसे कर्मोंके चार भेद किये गये हैं—जीव-विपाकी, भवविपाकी, पुद्‌गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी। यद्यपि सभी कर्मोंकी रचना परिणामोंसे होती हैं; निमित्त—भेदकी अपेक्षा उनमें भेद किया जाता है, किन्तु बन्धके समय प्रशस्त परिणामोंसे जिनको अनुभाग अधिक मिलता है उनको प्रशस्तकर्म और अप्रशस्त परिणामोंसे अधिक अनुभाग मिलने वालोंको अप्रशस्तकर्म कहा जाता है। चारों घातिया कर्म अप्रशस्त हैं और अघातिया कर्म प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों प्रकारके हैं। विशुद्ध परिणामोंकी बहुलताकी दृष्टिसे सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि नारकीमें जितनी विशुद्धता हो सकती है, उतनी वायुकायिक और अग्निकायिक जीवोंमें सम्भव नहीं है। इस प्रकार गति, परिणाम, काल आदिका विचार ओघ और आदेशसे किया गया है।

कहीं-कहीं पण्डितजीको विशेषार्थ इतना लम्बा लिखना पड़ा है कि मूल भाग आधे पृष्ठको पूरे तीन तीन पृष्ठोंमें स्पष्ट करना पड़ा है। जिनागममें कई अपेक्षाओंसे विवेचन किया गया है। अकेले कालकी प्ररूपणा जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो प्रकारसे की गई है। फिर, निर्देश भी दो प्रकारसे है—ओघ और आदेशसे। अतः विशेषार्थमें विशेष रूपसे स्पष्टीकरण आवश्यक था। कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सब कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगके सद्भावमें होता है। और उत्कृष्ट योगका जघन्य काल एक रहस्यमय और उत्कृष्ट काल दो समय है। इसलिए यहाँ ओघसे आठों कर्मोंके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय कहा है। यह सम्भव है कि अनुत्कृष्ट योग एक समय तक हो और अनुत्कृष्ट योगके सद्भावमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्भव नहीं, इसलिए ओघसे आठों कर्मोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य काल एक समय कहा है। अब शेष रहा आठों कर्मोंके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धका उत्कृष्ट काल सो उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है"—

विशेषार्थमें यह ध्यान बराबर रखा गया है कि जो बात पहले लिख आये हैं उसकी पुनरावृत्ति न हो। इसलिए कहीं-कहीं संकेत या उल्लेख भी किया गया है। जैसे कि काल-प्ररूपणाके प्रकरणमें विशेषार्थमें लिखा गया है—

'कालका खुलासा पहले जिस प्रकारकर आये हैं उसे ध्यानमें रखकर यहाँ भी कर लेना चाहिए। मात्र बादर पर्याप्त निगोदोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए।'

इस प्रकार आगम ग्रन्थोंके सतत अभ्याससे जिन्होंने सिद्धान्तके प्ररूपणमें विशदता प्राप्त की है उनके सम्पादित ग्रन्थ स्वतः सिद्धान्तमय हैं, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

●

तत्त्वार्थसूत्रटीका : एक समीक्षा

डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

तत्त्वार्थसूत्रके पूर्व जैन श्रुतमें तत्त्वोंका निरूपण भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलिके द्वारा प्रचारित सत् संख्या आदि अनुयोगोंके माध्यमसे होता था। इसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रमें 'सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च' सूत्रके द्वारा किया है। इस शैलीका अनुगमन करनेवाला आचार्य नेमिचन्द्रजीका गोम्मटसार है। उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थसूत्रमें जिस शैलीको अंगीकृत किया, वह सरल होनेसे सबको ग्राह्य हुई। तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें विविध संस्कृत टीकाएँ लिखी गई हैं। आचार्य पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' अकलंकदेव का राजवार्तिक विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक और उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगमभाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। समन्तभद्र स्वामीके गन्धहस्ति महाभाष्यका उल्लेख मात्र मिलता है, पर ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो रहा है। यह रही संस्कृत टीकाओंकी बात, परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीसे तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले हरिवंशपुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण तत्त्वार्थसार तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह है कि यह तत्त्व-निरूपणकी शैली ग्रन्थकारोंको इतनी रुचिकर लगी कि पूर्व शैलीको एकदम भुला दिया गया है।

"तत्त्वार्थसूत्र" पर अनेकों विद्वानोंने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं जो संक्षिप्त, मध्यम और विस्तृत सब प्रकारकी हैं। पं० सदासुखरायजी कासलीवालकी 'अर्थ प्रकाशिका' नामकी विस्तृत टीका है। उसमें प्रसङ्गोपान्त अनेक विषयोंका समावेश किया गया है। आधुनिक टीकाओंमें सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीकृत और वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित टीका 'तत्त्वार्थसूत्र' हमारे सामने है। इस टीकामें पण्डितजीने टिप्पणमें श्वेताम्बर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org